www.ijarp.com ISSN 2456-9992 Page: 01-11

International Journal Advanced Research Publications

Review Article

Volume: 02
Issue: 07

व्यंग्य का सामाजिक सरोकार : हिंदी साहित्य में आलोचनात्मक चेतना का विकास

***डॉ. पुरोबी अविनाश**

असिस्टेंट प्रोफेसर दयानंद सागर कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय कुमारस्वामी लेआउट,बैंगलोर-560111, भारत

Article Received: 12 June 2026, Article Revised: 02 July 2026, Published on: 22 July 2026

***Corresponding Author: डॉ. पुरोबी अविनाश**
अस‍िस्टेंट प्रोफेसर दयानंद सागर कला, विज्ञान एवं वाणिज्य महाविद्यालय कुमारस्वामी लेआउट,बैंगलोर-560111, भारत
Doi: https://doi-doi.org/101555/ijarp.1230

सार

व्यंग्य हिंदी साहित्य की ऐसी सशक्त विधा है, जो समाज की अंतर्विरोधी संरचनाओं, सत्ता-संबंधों और मानवीय व्यवहार में निहित विसंगतियों का केवल चित्रण ही नहीं करती, बल्कि उनका आलोचनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत करती है। व्यंग्य का उद्देश्य हँसी उत्पन्न करना भर नहीं है; उसका वास्तविक सरोकार सामाजिक विवेक को जागृत करना और यथास्थिति को चुनौती देना है। हिंदी व्यंग्य का विकास भारतीय समाज में घटित राजनीतिक, सांस्कृतिक और वैचारिक परिवर्तनों के साथ निरंतर जुड़ा रहा है। भारतेन्दु युग की सुधारवादी चेतना से लेकर स्वतंत्रता-उत्तर लोकतांत्रिक विडंबनाओं, बाजारवादी संस्कृति और समकालीन डिजिटल परिवेश तक व्यंग्य ने प्रत्येक युग के सामाजिक यथार्थ को नई दृष्टि से देखा है। प्रस्तुत आलेख हिंदी व्यंग्य की इसी विकास-यात्रा का अध्ययन सामाजिक सरोकारों के परिप्रेक्ष्य में करता है। इसमें व्यंग्य को केवल साहित्यिक विधा के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिरोध, वैचारिक हस्तक्षेप और जनचेतना के माध्यम के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। साथ ही यह भी विश्लेषित किया गया है कि बदलते समय के साथ व्यंग्य के विषय, भाषा, शिल्प और अभिव्यक्ति में किस प्रकार परिवर्तन आया तथा समकालीन समाज में उसकी प्रासंगिकता किन नए आयामों के साथ स्थापित हुई है।

कुंजी शब्द: व्यंग्य, सामाजिक सरोकार, आलोचनात्मक चेतना, हिंदी साहित्य, सामाजिक यथार्थ, प्रतिरोध

प्रस्तावना

मानव समाज कभी स्थिर नहीं रहता; वह निरंतर परिवर्तन, संघर्ष और पुनर्संरचना की प्रक्रिया से गुजरता है। प्रत्येक युग अपने साथ नए मूल्य, नई चुनौतियाँ और नए अंतर्विरोध लेकर आता है। जहाँ इतिहास इन परिवर्तनों का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है, वहीं साहित्य उनके मानवीय और सामाजिक प्रभावों की संवेदनात्मक व्याख्या करता है। साहित्य की विविध विधाओं में व्यंग्य का स्थान इसलिए विशिष्ट है कि वह समाज की उन दरारों को पहचानता है जो सामान्य दृष्टि से प्रायः अदृश्य रह जाती हैं। वह केवल यथार्थ का वर्णन नहीं करता, बल्कि उसके भीतर सक्रिय पाखंड, विसंगति और सत्ता-निर्मित मिथकों को उजागर करते हुए पाठक को आत्मालोचन के लिए प्रेरित करता है। व्यंग्य का मूल स्वभाव प्रतिरोधधर्मी है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का उपहास नहीं, बल्कि उन प्रवृत्तियों का आलोचनात्मक उद्‌घाटन है जो समाज में अन्याय, असमानता, आडंबर और नैतिक विघटन को जन्म देती हैं। इसीलिए व्यंग्य को हास्य का पर्याय मानना उसकी वैचारिक शक्ति को सीमित कर देना होगा। हास्य का उद्देश्य जहाँ मुख्यतः आनंद उत्पन्न करना हो सकता है, वहीं व्यंग्य आनंद के भीतर असुविधा का बोध भी निर्मित करता है। उसकी हँसी के पीछे प्रश्न हैं, उसकी मुस्कान के भीतर प्रतिरोध है और उसकी भाषा में सामाजिक विवेक की बेचैनी निहित रहती है।

भारतीय साहित्यिक परंपरा में व्यंग्य का स्वर नवीन नहीं है। संस्कृत साहित्य के प्रहसनों से लेकर संत कवियों की निर्भीक वाणी तक सामाजिक आलोचना के विविध रूप मिलते हैं। कबीर ने धार्मिक पाखंड, जातिगत ऊँच-नीच और कर्मकांड पर जिस निर्भीकता से प्रहार किया, वह भारतीय व्यंग्य चेतना की आरंभिक अभिव्यक्तियों में गिना जा सकता है। आधुनिक हिंदी साहित्य में यह चेतना अधिक संगठित रूप में सामने आती है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय जागरण के संदर्भ में व्यंग्य को नई वैचारिक दिशा दी। आगे चलकर हरिशंकर परसाई, शरद जोशी और श्रीलाल शुक्ल जैसे रचनाकारों ने व्यंग्य को सामाजिक आलोचना की एक स्वतंत्र और सशक्त साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित किया। समकालीन समाज में व्यंग्य का महत्व और भी बढ़ गया है। लोकतांत्रिक व्यवस्था की जटिलताएँ, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, बाजारवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति, मीडिया का प्रभाव तथा डिजिटल संचार के नए माध्यमों ने सामाजिक जीवन को अनेक स्तरों पर प्रभावित किया है। ऐसे समय में व्यंग्य केवल घटनाओं पर टिप्पणी नहीं करता, बल्कि उन वैचारिक संरचनाओं को भी प्रश्नांकित करता है जिनके कारण सामाजिक विसंगतियाँ जन्म लेती हैं। यही कारण है कि व्यंग्य आज भी साहित्य की सबसे जीवंत और प्रासंगिक विधाओं में से एक माना जाता है। प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य हिंदी व्यंग्य के इतिहास का मात्र कालक्रम प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि उसके सामाजिक सरोकारों और आलोचनात्मक चेतना के विकास को समझना है। इस अध्ययन में यह विश्लेषित किया जाएगा कि

विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में हिंदी व्यंग्य ने किस प्रकार बदलते सामाजिक यथार्थ के साथ संवाद स्थापित किया, किन प्रश्नों को अपनी अभिव्यक्ति का केंद्र बनाया और समय के साथ उसकी दृष्टि तथा अभिव्यक्ति में कौन-कौन से परिवर्तन आए। इस प्रकार यह अध्ययन हिंदी व्यंग्य को केवल साहित्यिक विधा के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय समाज की आलोचनात्मक चेतना के एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक दस्तावेज के रूप में देखने का प्रयास करता है।

भारतीय साहित्यिक परंपरा में व्यंग्य की वैचारिक पृष्ठभूमि

व्यंग्य किसी भी सभ्य समाज की आलोचनात्मक चेतना का अनिवार्य अंग है। जिस समाज में प्रश्न करने की परंपरा जीवित रहती है, वहाँ व्यंग्य भी जीवित रहता है; और जहाँ प्रश्न करने की स्वतंत्रता क्षीण होने लगती है, वहाँ व्यंग्य प्रतिरोध की भाषा बन जाता है। भारतीय साहित्यिक परंपरा में व्यंग्य का विकास किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं है, बल्कि यह सामाजिक अनुभवों, सांस्कृतिक संघर्षों और वैचारिक मंथन की दीर्घ प्रक्रिया से निर्मित हुआ है। इसलिए हिंदी व्यंग्य को समझने के लिए उसकी जड़ों को भारतीय साहित्य की व्यापक परंपरा में देखना आवश्यक है। संस्कृत साहित्य में यद्यपि 'व्यंग्य' एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में विकसित नहीं हुआ, तथापि उसके मूल तत्त्व विभिन्न साहित्यिक रूपों में स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। प्रहसन नाटकों में सामाजिक आडंबर, धार्मिक पाखंड और सत्ता-संरक्षित विसंगतियों पर तीखा कटाक्ष मिलता है। महाकवि दंडी, क्षेमेन्द्र तथा अन्य संस्कृत आचार्यों की रचनाओं में समाज के नैतिक पतन, दंभ और आचरणगत विरोधाभासों का चित्रण इस प्रकार हुआ है कि वह केवल हास्य उत्पन्न नहीं करता, बल्कि सामाजिक विवेक को भी उद्बोधित करता है। यहाँ व्यंग्य का उद्देश्य व्यक्ति का उपहास करना नहीं, बल्कि समाज को आत्मनिरीक्षण की ओर प्रेरित करना है।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य में संत काव्यधारा ने इस आलोचनात्मक परंपरा को नई वैचारिक ऊर्जा प्रदान की। विशेष रूप से कबीर की वाणी में व्यंग्य सामाजिक प्रतिरोध का सबसे सशक्त रूप बनकर सामने आता है। कबीर ने धार्मिक आडंबर, जातिगत ऊँच-नीच, कर्मकांड और बाह्याडंबर पर जिस निर्भीकता से प्रहार किया, वह भारतीय समाज की रूढ़ संरचनाओं को सीधी चुनौती देता है। वे कहते हैं—

"माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर।
कर का मनका डार दे, मन का मनका फेर॥"

इस दोहे में कबीर बाह्य धार्मिक आडंबर की निरर्थकता को उद्घाटित करते हुए आंतरिक आत्मपरिवर्तन को वास्तविक साधना का आधार मानते हैं। उनका व्यंग्य किसी संप्रदाय-विशेष के विरोध का नहीं, बल्कि उस मानसिकता के विरुद्ध है जो धर्म को कर्मकांड तक सीमित कर देती है।

इस प्रकार कबीर की व्यंग्य-दृष्टि सामाजिक विवेक, समानता और मानवीय चेतना की स्थापना का माध्यम बन जाती है। यही कारण है कि उनकी वाणी आज भी सामाजिक आलोचना की दृष्टि से उतनी ही प्रासंगिक प्रतीत होती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी प्रसिद्ध कृति *'कबीर'* में कबीर को भारतीय समाज की जड़ रूढ़ियों और बाह्याडंबर के निर्भीक आलोचक के रूप में स्थापित किया है। उनके अनुसार कबीर का प्रतिरोध केवल निषेध का स्वर नहीं, बल्कि मानवीय विवेक, समता और सामाजिक पुनर्निर्माण की चेतना का उद्घोष है।

आधुनिक हिंदी साहित्य के आरंभ के साथ व्यंग्य की दिशा और उद्देश्य में महत्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय समाज औपनिवेशिक शासन, सामाजिक जड़ताओं और सांस्कृतिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने साहित्य को राष्ट्रीय जागरण और सामाजिक परिवर्तन का माध्यम बनाया। उनकी रचनाओं में व्यंग्य केवल हास्य का उपकरण नहीं, बल्कि सामाजिक सुधार की वैचारिक रणनीति के रूप में उपस्थित है। 'अंधेर नगरी' और 'भारत दुर्दशा' जैसी कृतियाँ तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की तीखी आलोचना प्रस्तुत करती हैं। अंधेर नगरी का प्रसिद्ध कथन — **"अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा"** केवल हास्यपूर्ण उक्ति नहीं है, बल्कि शासन-व्यवस्था की अव्यवस्था, न्यायहीनता और प्रशासनिक विडंबना का सशक्त रूपक है। भारतेन्दु ने यह स्थापित किया कि साहित्य की सार्थकता केवल सौंदर्यबोध में नहीं, बल्कि सामाजिक उत्तरदायित्व में भी निहित है। उनके व्यंग्य का लक्ष्य किसी व्यक्ति-विशेष पर कटाक्ष करना नहीं, बल्कि औपनिवेशिक शासन, सामाजिक रूढ़ियों और जनजीवन की विसंगतियों का उद्घाटन करना है। इसी कारण आधुनिक हिंदी व्यंग्य में सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना का जो स्वर विकसित होता है, उसकी आधारशिला भारतेन्दु युग में ही दिखाई देती है।

द्विवेदी युग में व्यंग्य का स्वर अपेक्षाकृत संयमित दिखाई देता है, क्योंकि इस काल का साहित्य राष्ट्रीय पुनर्जागरण, नैतिक शिक्षा और भाषा-परिष्कार की ओर अधिक उन्मुख था। फिर भी सामाजिक सुधार, अंधविश्वास और रूढ़ियों के विरुद्ध जो वैचारिक आग्रह इस युग में दिखाई देता है, उसने आगे चलकर आधुनिक हिंदी व्यंग्य के लिए वैचारिक भूमि तैयार की। इस प्रकार हिंदी व्यंग्य का विकास किसी एक लेखक या कालखंड का परिणाम नहीं, बल्कि भारतीय समाज की बदलती चेतना के साथ विकसित होने वाली एक सतत साहित्यिक प्रक्रिया है। इस प्रकार भारतीय साहित्यिक परंपरा में विकसित व्यंग्य-चेतना स्वतंत्रता-पूर्व सामाजिक सुधार के उद्देश्य से आगे बढ़कर स्वतंत्रता-उत्तर भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था, सत्ता-संरचनाओं और मध्यवर्गीय जीवन की जटिलताओं की आलोचना का सशक्त माध्यम बन

जाती है। यही परिवर्तन आधुनिक हिंदी व्यंग्य की वैचारिक विशिष्टता का आधार है और अगले चरण में उसकी आलोचनात्मक दृष्टि को और व्यापक बनाता है।

आधुनिक हिंदी व्यंग्य : लोकतांत्रिक समाज का आत्मालोचन

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ भारतीय समाज ने एक नए युग में प्रवेश किया। लोकतंत्र, समानता, सामाजिक न्याय और विकास के जिन आदर्शों के साथ स्वतंत्र भारत का निर्माण आरंभ हुआ था, समय के साथ उन्हीं आदर्शों और सामाजिक यथार्थ के बीच गहरी दूरी दिखाई देने लगी। राजनीतिक अवसरवाद, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, नैतिक मूल्यों का क्षरण, बढ़ती नौकरशाही, मध्यवर्गीय द्वंद्व और सामाजिक पाखंड ने स्वतंत्रता के उत्साह को धीरे-धीरे प्रश्नों में बदल दिया। यही वह ऐतिहासिक क्षण था जब हिंदी व्यंग्य ने अपनी सबसे प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्राप्त की। इस दौर का व्यंग्य केवल विसंगतियों का चित्रण नहीं करता, बल्कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर छिपे अंतर्विरोधों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। डॉ. रामविलास शर्मा का मत है कि साहित्य अपने समय की ऐतिहासिक शक्तियों से पृथक नहीं हो सकता। यह विचार हिंदी व्यंग्य पर पूर्णतः लागू होता है, क्योंकि स्वतंत्रता-उत्तर व्यंग्य ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को बाहर से नहीं, बल्कि उसके भीतर रहकर देखा। इसीलिए इस काल का व्यंग्य व्यक्ति की अपेक्षा व्यवस्था की अधिक गहन समीक्षा करता है। यहाँ हँसी मनोरंजन का साधन नहीं रहती, बल्कि सामाजिक विवेक को झकझोरने वाली बौद्धिक प्रतिक्रिया का रूप ग्रहण कर लेती है। यदि आधुनिक हिंदी व्यंग्य की इस वैचारिक यात्रा का सबसे सशक्त स्वर किसी रचनाकार में दिखाई देता है, तो वह हरिशंकर परसाई हैं। उन्होंने व्यंग्य को केवल साहित्यिक विनोद की सीमा से मुक्त कर उसे सामाजिक प्रतिरोध की भाषा बनाया। स्वयं परसाई लिखते हैं—"व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है। वह जीवन की आलोचना करता है, विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखंडों का पर्दाफाश करता है।" यह कथन उनके संपूर्ण व्यंग्य-साहित्य का वैचारिक आधार है। सदाचार का ताबीज, भोलाराम का जीव और विकलांग श्रद्धा का दौर जैसी रचनाओं में वे उस समाज की परतें खोलते हैं जहाँ नैतिकता सार्वजनिक भाषणों तक सीमित रह जाती है और व्यवहार में अवसरवाद ही सामाजिक मूल्य बन जाता है। परसाई का व्यंग्य व्यक्ति पर नहीं, बल्कि उस मानसिकता पर प्रहार करता है जो अन्याय को सामान्य और पाखंड को स्वीकार्य बना देती है।

परसाई के बाद शरद जोशी हिंदी व्यंग्य को एक नई संवेदनात्मक दिशा प्रदान करते हैं। यदि परसाई के यहाँ व्यंग्य का स्वर प्रतिरोधात्मक है, तो शरद जोशी के यहाँ वही स्वर जीवन की सूक्ष्म विडंबनाओं का कलात्मक रूप धारण कर लेता है। उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों में छिपे सामाजिक अंतर्विरोधों को अत्यंत सहज भाषा में अभिव्यक्ति दी। अतिथि! तुम कब जाओगे जैसी रचनाएँ केवल

पारिवारिक हास्य नहीं रचतीं, बल्कि भारतीय मध्यवर्ग की सामाजिक औपचारिकताओं, झूठी मर्यादाओं और मनोवैज्ञानिक असहजताओं का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं। शरद जोशी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे पाठक को हँसाते हुए उसी हँसी के भीतर उसकी सामाजिक भूमिका पर प्रश्नचिह्न भी अंकित कर देते हैं। स्वतंत्रता-उत्तर हिंदी व्यंग्य को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने का श्रेय श्रीलाल शुक्ल को जाता है। उनका उपन्यास राग दरबारी हिंदी साहित्य में केवल व्यंग्यात्मक उपन्यास नहीं, बल्कि स्वतंत्र भारत के ग्रामीण लोकतंत्र का समाजशास्त्रीय दस्तावेज माना जाता है। शिवपालगंज यहाँ किसी एक गाँव का नाम नहीं है; वह भारतीय लोकतंत्र का रूपक बन जाता है, जहाँ शिक्षा, राजनीति, प्रशासन और सामाजिक संबंध सभी सत्ता के प्रभाव से संचालित दिखाई देते हैं। आलोचक गोपाल राय ने राग दरबारी को स्वतंत्र भारत के ग्रामीण जीवन का सबसे प्रभावशाली व्यंग्यात्मक आख्यान माना है। यह उपन्यास लोकतांत्रिक व्यवस्था की संस्थागत विडंबनाओं का ऐसा सशक्त चित्र प्रस्तुत करता है, जिसने हिंदी व्यंग्य को व्यापक सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य प्रदान किया। वास्तव में श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य व्यवस्था की आलोचना करते हुए यह संकेत भी देता है कि सामाजिक पतन केवल राजनीतिक समस्या नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और नैतिक संकट भी है। इन तीनों रचनाकारों की व्यंग्य-दृष्टि में शैलीगत भिन्नताएँ अवश्य हैं, किंतु उनका मूल सरोकार समान है—समाज को उसकी वास्तविक स्थिति से परिचित कराना। परसाई व्यवस्था की वैचारिक समीक्षा करते हैं, शरद जोशी सामाजिक व्यवहार की विडंबनाओं को उद्‌घाटित करते हैं और श्रीलाल शुक्ल लोकतांत्रिक संस्थाओं के भीतर व्याप्त संरचनात्मक संकट को रेखांकित करते हैं। इस प्रकार आधुनिक हिंदी व्यंग्य व्यक्ति-केंद्रित उपहास से आगे बढ़कर समाज-केंद्रित आलोचना का साहित्य बन जाता है।

यहीं से हिंदी व्यंग्य का स्वर अधिक व्यापक हो जाता है। अब उसका लक्ष्य केवल सामाजिक पाखंड नहीं रह जाता, बल्कि बदलती अर्थव्यवस्था, बाजारवादी संस्कृति, मीडिया के बढ़ते प्रभाव और उपभोक्तावादी जीवन-दृष्टि की समीक्षा भी उसके केंद्र में आने लगती है। यही परिवर्तन समकालीन हिंदी व्यंग्य को नई वैचारिक चुनौतियों और नए रचनात्मक क्षितिजों की ओर अग्रसर करता है।

समकालीन हिंदी व्यंग्य : बाजार, मीडिया और उपभोक्तावादी समाज की आलोचना

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण ने भारतीय समाज की संरचना को गहरे स्तर पर प्रभावित किया। इस परिवर्तन ने केवल अर्थव्यवस्था को नहीं बदला, बल्कि सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक मूल्यों, भाषा, उपभोग की प्रवृत्तियों और व्यक्ति की जीवन-दृष्टि को भी नई दिशा दी। प्रतिस्पर्धा, उपभोक्तावाद और बाज़ार-केन्द्रित जीवनशैली ने मानवीय संवेदनाओं को धीरे-धीरे उपयोगितावादी दृष्टिकोण में रूपांतरित करना प्रारंभ किया। परिणामस्वरूप साहित्य के

समक्ष भी नए प्रश्न उपस्थित हुए। हिंदी व्यंग्य ने इन परिवर्तनों को केवल समकालीन घटनाओं के रूप में नहीं देखा, बल्कि उन्हें भारतीय समाज के बदलते चरित्र के संकेत के रूप में समझने का प्रयास किया। समकालीन व्यंग्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका संघर्ष किसी एक राजनीतिक दल, व्यक्ति अथवा संस्था से नहीं, बल्कि उस सामाजिक मानसिकता से है जो बाजार को जीवन का अंतिम सत्य मान बैठी है। उपभोग, प्रदर्शन, तात्कालिक सफलता और लोकप्रियता की संस्कृति ने व्यक्ति की पहचान को उसके नैतिक मूल्यों के स्थान पर उसकी क्रय-शक्ति और सामाजिक छवि से जोड़ दिया है। ऐसी परिस्थितियों में व्यंग्य साहित्य आधुनिक जीवन की चमक-दमक के पीछे छिपी संवेदनहीनता, कृत्रिमता और सांस्कृतिक रिक्तता को उद्घाटित करता है। वह यह प्रश्न उठाता है कि विकास की जिस अवधारणा पर आधुनिक समाज गर्व करता है, क्या उसमें मनुष्य की गरिमा और सामाजिक उत्तरदायित्व के लिए भी कोई स्थान शेष है?

ज्ञान चतुर्वेदी का व्यंग्य इसी सामाजिक संक्रमण की सबसे सशक्त अभिव्यक्तियों में से एक है। चिकित्सा-व्यवस्था से जुड़े उनके अनुभवों ने उनके व्यंग्य को जीवन के यथार्थ से गहरे स्तर पर जोड़ा है। *बारामासी, नरक यात्रा* तथा उनके विविध व्यंग्य-संग्रहों में व्यवस्था का विघटन, राजनीतिक अवसरवाद, सामाजिक पाखंड और नैतिक पतन एक-दूसरे से जुड़े हुए दिखाई देते हैं। उनके यहाँ व्यंग्य केवल कटाक्ष नहीं, बल्कि व्यवस्था की आंतरिक संरचना का विश्लेषण है। उनकी भाषा में लोकजीवन की सहजता है, किंतु उसके भीतर तीक्ष्ण बौद्धिकता भी निहित रहती है। यही कारण है कि उनकी रचनाएँ पाठक को केवल हँसाती नहीं, बल्कि समकालीन भारतीय समाज के जटिल यथार्थ से भी परिचित कराती हैं। प्रेम जनमेजय और हरीश नवल जैसे व्यंग्यकारों ने बदलते सामाजिक परिवेश में राजनीति, नौकरशाही, सांस्कृतिक प्रदूषण और सार्वजनिक जीवन में बढ़ते नैतिक संकट को अपने लेखन का केंद्र बनाया। उनके व्यंग्य में व्यवस्था की आलोचना के साथ-साथ सामान्य नागरिक की मानसिकता का भी सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। वे बार-बार यह संकेत करते हैं कि सामाजिक विसंगतियों के लिए केवल सत्ता ही उत्तरदायी नहीं होती; अनेक बार समाज स्वयं भी उन प्रवृत्तियों को पोषित करता है जिनकी आलोचना वह सार्वजनिक रूप से करता है। इस प्रकार समकालीन व्यंग्य बाहरी व्यवस्था के साथ-साथ मनुष्य के आंतरिक द्वंद्व को भी अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

इक्कीसवीं शताब्दी में मीडिया के विस्तार ने व्यंग्य के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। समाचार अब केवल सूचना नहीं, बल्कि उपभोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। विज्ञापन, मनोरंजन और राजनीतिक विमर्श के बीच की सीमाएँ लगातार धुँधली होती जा रही हैं। ऐसी परिस्थितियों में आलोक पुराणिक जैसे व्यंग्यकार मीडिया, कॉरपोरेट संस्कृति और उपभोक्तावादी मानसिकता पर तीखा व्यंग्य करते हैं। उनकी रचनाओं में आधुनिक जीवन की विडंबना यह है कि मनुष्य सुविधाओं से समृद्ध होता जा रहा है,

किंतु संवेदनाओं से लगातार रिक्त होता दिखाई देता है। आधुनिक तकनीक ने संचार के साधनों का विस्तार अवश्य किया है, परंतु संवाद की गहराई को अनेक स्तरों पर चुनौती भी दी है। समकालीन व्यंग्य इसी विरोधाभास को पहचानता है और उसकी आलोचनात्मक व्याख्या करता है। समकालीन हिंदी व्यंग्य का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि वह अब किसी निश्चित साहित्यिक संरचना तक सीमित नहीं रहा। अख़बारों के नियमित स्तंभ, रेडियो और टेलीविजन, वेब-पत्रिकाएँ तथा डिजिटल मंच—इन सभी ने व्यंग्य की अभिव्यक्ति को अधिक व्यापक बनाया है। इससे व्यंग्य का पाठक-वर्ग भी विस्तृत हुआ है और उसकी सामाजिक पहुँच भी बढ़ी है। किंतु इसके साथ ही तात्कालिकता का दबाव भी बढ़ा है, जिसके कारण अनेक बार व्यंग्य तत्कालीन प्रतिक्रिया तक सीमित होकर रह जाता है। इस चुनौती के बावजूद श्रेष्ठ समकालीन व्यंग्य वही माना जाएगा जो समय विशेष की घटना से आगे बढ़कर समाज के स्थायी अंतर्विरोधों को पहचान सके।

वस्तुतः समकालीन हिंदी व्यंग्य यह प्रमाणित करता है कि सामाजिक परिवर्तन जितना तीव्र होता है, व्यंग्य की आवश्यकता उतनी ही बढ़ जाती है। क्योंकि परिवर्तन के प्रत्येक दौर में सबसे पहले प्रश्नों की हत्या होती है और व्यंग्य उन्हीं प्रश्नों को पुनः जीवित करने का कार्य करता है। इस अर्थ में समकालीन व्यंग्य केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक समाज में आलोचनात्मक विवेक की निरंतर सक्रिय उपस्थिति है। यही विवेक आगे चलकर डिजिटल युग में व्यंग्य की नई अभिव्यक्तियों को जन्म देता है, जहाँ माध्यम बदल जाता है, परंतु सामाजिक सरोकार अपनी मूल संवेदना के साथ बने रहते हैं।

हिंदी व्यंग्य की आलोचनात्मक चेतना : समकालीन परिप्रेक्ष्य में एक मूल्यांकन

हिंदी व्यंग्य की विकास-यात्रा का अवलोकन यह स्पष्ट करता है कि उसकी शक्ति केवल सामाजिक विसंगतियों के उद्‌घाटन में नहीं, बल्कि उन विसंगतियों के पीछे सक्रिय वैचारिक, नैतिक और सांस्कृतिक संरचनाओं की पहचान में निहित है। व्यंग्य समाज के सामने दर्पण अवश्य प्रस्तुत करता है, किंतु वह निष्क्रिय दर्पण नहीं है; वह ऐसा आलोचनात्मक दर्पण है जो केवल प्रतिबिंब नहीं दिखाता, बल्कि उस प्रतिबिंब के भीतर छिपे अंतर्विरोधों को भी उजागर करता है। यही कारण है कि हिंदी व्यंग्य को केवल हास्यप्रधान साहित्य की श्रेणी में रखना उसकी रचनात्मक और वैचारिक शक्ति का अवमूल्यन होगा। हरिशंकर परसाई ने व्यंग्य को जीवन की आलोचना कहा था। यह कथन केवल उनकी व्यक्तिगत साहित्य-दृष्टि नहीं, बल्कि संपूर्ण आधुनिक हिंदी व्यंग्य की वैचारिक आधारभूमि का उद्‌घोष है। हिंदी व्यंग्य का मूल उद्देश्य किसी व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्था का उपहास करना नहीं, बल्कि उन सामाजिक प्रवृत्तियों की पहचान करना है जो अन्याय, असमानता, पाखंड और अवसरवाद को

सामान्य जीवन-मूल्य के रूप में स्थापित करती हैं। इस दृष्टि से व्यंग्य सामाजिक उत्तरदायित्व का साहित्य है, क्योंकि वह मनुष्य को बाह्य परिस्थितियों के साथ-साथ अपने स्वयं के आचरण और नैतिक दायित्वों पर भी पुनर्विचार करने के लिए प्रेरित करता है।

लोकतांत्रिक समाज में व्यंग्य की प्रासंगिकता और भी अधिक बढ़ जाती है। लोकतंत्र केवल चुनावों की व्यवस्था नहीं, बल्कि असहमति, संवाद और आलोचनात्मक विवेक की संस्कृति पर आधारित सामाजिक व्यवस्था है। जब सार्वजनिक जीवन में सत्ता का केंद्रीकरण, संस्थागत जड़ता, राजनीतिक अवसरवाद अथवा नैतिक मूल्यों का ह्रास दिखाई देता है, तब व्यंग्य उन प्रवृत्तियों के विरुद्ध सांस्कृतिक प्रतिरोध का कार्य करता है। उसकी भाषा आक्रोश से अधिक विवेक की भाषा होती है; वह नारे नहीं देता, बल्कि ऐसे प्रश्न उपस्थित करता है जिनसे बचना संभव नहीं होता। इस अर्थ में हिंदी व्यंग्य लोकतांत्रिक समाज में नागरिक चेतना के निर्माण का भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि समकालीन समय में हिंदी व्यंग्य अनेक नई चुनौतियों का सामना कर रहा है। सूचना-प्रौद्योगिकी और त्वरित संचार के युग में व्यंग्य की लोकप्रियता बढ़ी है, किंतु उसके साथ सतहीपन का संकट भी गहरा हुआ है। अनेक बार व्यंग्य गंभीर सामाजिक विश्लेषण के स्थान पर तात्कालिक प्रतिक्रिया, व्यक्तिगत कटाक्ष अथवा राजनीतिक पक्षधरता तक सीमित होकर रह जाता है। साहित्यिक व्यंग्य और क्षणिक उपहास के बीच का अंतर धीरे-धीरे धुँधला पड़ता दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि व्यंग्य अपनी आलोचनात्मक गरिमा, वैचारिक संतुलन और मानवीय संवेदना को बनाए रखे; अन्यथा वह अपने मूल साहित्यिक उद्देश्य से विचलित हो सकता है। यह भी उल्लेखनीय है कि समकालीन भारतीय समाज निरंतर नए सामाजिक और सांस्कृतिक प्रश्नों से जूझ रहा है। आर्थिक असमानता, पर्यावरणीय संकट, लैंगिक न्याय, सांस्कृतिक बहुलता, पहचान की राजनीति, कृत्रिम बुद्धिमत्ता तथा बदलते मानवीय संबंध जैसे प्रश्न साहित्य के समक्ष नई चुनौतियाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। इन परिस्थितियों में हिंदी व्यंग्य की भूमिका केवल स्थापित विसंगतियों की आलोचना तक सीमित नहीं रह सकती; उसे उन सूक्ष्म सामाजिक परिवर्तनों को भी पहचानना होगा जो भविष्य के समाज की दिशा निर्धारित करेंगे। इसलिए आवश्यक है कि व्यंग्य अपनी आलोचनात्मक दृष्टि को समयानुकूल विस्तार देते हुए समकालीन जीवन के नए अंतर्विरोधों का भी संवेदनशील और विवेकपूर्ण विश्लेषण करे।

अंततः कहा जा सकता है कि हिंदी व्यंग्य भारतीय समाज की आलोचनात्मक चेतना का सशक्त सांस्कृतिक दस्तावेज है। उसने विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में सामाजिक यथार्थ के साथ सक्रिय संवाद स्थापित करते हुए जनजीवन की विसंगतियों, सत्ता-संरचनाओं और नैतिक विघटन पर निरंतर प्रश्न उठाए हैं। यही प्रश्नाकुलता उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। जब तक समाज में असमानता, पाखंड, अन्याय

और सत्ता के दुरुपयोग जैसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहेंगी, तब तक हिंदी व्यंग्य की आवश्यकता भी बनी रहेगी। इस प्रकार व्यंग्य केवल एक साहित्यिक विधा नहीं, बल्कि समाज के नैतिक विवेक, लोकतांत्रिक चेतना और मानवीय मूल्यों को जीवित रखने वाली एक सतत सृजनात्मक प्रक्रिया है।

निष्कर्ष

हिंदी व्यंग्य की परंपरा भारतीय साहित्य की उस सशक्त आलोचनात्मक धारा का प्रतिनिधित्व करती है, जिसने प्रत्येक युग में समाज की विसंगतियों, सत्ता-संरचनाओं और मानवीय आचरण के अंतर्विरोधों को निर्भीकता के साथ अभिव्यक्ति प्रदान की है। संस्कृत साहित्य के प्रहसनों से लेकर संत परंपरा की निर्भीक वाणी, भारतेन्दु युग की सुधारवादी चेतना, स्वतंत्रता-उत्तर हिंदी व्यंग्य की लोकतांत्रिक दृष्टि तथा समकालीन सामाजिक सरोकारों तक व्यंग्य ने निरंतर अपने स्वर, शिल्प और वैचारिक क्षितिज का विस्तार किया है। इस विकास-यात्रा से यह स्पष्ट होता है कि व्यंग्य किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति या ऐतिहासिक काल की देन नहीं, बल्कि भारतीय समाज की आत्मालोचनात्मक चेतना का सतत विकसित होता हुआ साहित्यिक रूप है।

प्रस्तुत अध्ययन से यह निष्कर्ष भी सामने आता है कि हिंदी व्यंग्य का वास्तविक उद्देश्य केवल हास्य उत्पन्न करना नहीं, बल्कि सामाजिक विवेक को जागृत करना, स्थापित मान्यताओं का आलोचनात्मक परीक्षण करना और मनुष्य को अपने समय के नैतिक तथा सामाजिक प्रश्नों के प्रति संवेदनशील बनाना है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, ज्ञान चतुर्वेदी तथा अन्य समकालीन व्यंग्यकारों ने अपने-अपने रचनात्मक ढंग से यह प्रमाणित किया है कि व्यंग्य तब सबसे अधिक सार्थक होता है जब वह व्यक्ति के बजाय व्यवस्था, प्रवृत्तियों और सामाजिक मानसिकता को अपनी आलोचना का केंद्र बनाता है। इसी कारण हिंदी व्यंग्य मनोरंजन की विधा से आगे बढ़कर लोकतांत्रिक समाज में वैचारिक हस्तक्षेप और सांस्कृतिक प्रतिरोध का प्रभावी माध्यम बन जाता है।

समकालीन परिप्रेक्ष्य में, जब समाज तीव्र आर्थिक, सांस्कृतिक और वैचारिक परिवर्तनों से गुजर रहा है, हिंदी व्यंग्य की प्रासंगिकता और अधिक बढ़ जाती है। बदलते सामाजिक संदर्भों में उसकी जिम्मेदारी केवल विसंगतियों को रेखांकित करना नहीं, बल्कि आलोचनात्मक विवेक, मानवीय संवेदना और सामाजिक उत्तरदायित्व को सुदृढ़ करना भी है। इस दृष्टि से हिंदी व्यंग्य आज भी साहित्य की एक जीवंत, सक्रिय और परिवर्तनकारी विधा है, जो समाज को केवल उसका यथार्थ नहीं दिखाती, बल्कि एक अधिक न्यायपूर्ण, विवेकपूर्ण और मानवीय सामाजिक व्यवस्था की दिशा में विचार करने के लिए प्रेरित करती है। यही हिंदी व्यंग्य की सबसे बड़ी साहित्यिक उपलब्धि और उसकी स्थायी सामाजिक प्रासंगिकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद. *कबीर.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
2. कबीर. *कबीर ग्रंथावली.* संपा. श्यामसुन्दर दास. प्रयागराज: इंडियन प्रेस।
3. भारतेन्दु हरिश्चंद्र. *अंधेर नगरी.* तृतीय संस्करण. जयपुर: साहित्यागार, 2003.
4. परसाई, हरिशंकर. *सदाचार का तावीज़.* नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 2023.
5. शुक्ल, श्रीलाल. *राग दरबारी.* डीलक्स संस्करण. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 2023.
6. राय, गोपाल. *हिंदी उपन्यास का इतिहास.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2016.
7. शर्मा, रामविलास. *संस्कृति और साहित्य.* इलाहाबाद: किताब महल, 1949.
8. सिंह, नामवर. *इतिहास और आलोचना.* नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2018.
9. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. *हिन्दी साहित्य का इतिहास.* नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2023.